कषाय का प्रतिक्रमण

श्री सम्पतराज डोसी

जहाँ अतिक्रमण है वहाँ प्रतिक्रमण की आवश्यकता है। जब तक व्यक्ति राग-द्वेष एवं कषायों से युक्त है तब तक अतिक्रमण है। इस अतिक्रमण का प्रतिक्रमण करने पर ही राग-द्वेषादि से रहित हुआ जा सकता है। यही कषाय प्रतिक्रमण है। मिथ्यात्वादि के प्रतिक्रमण का लक्ष्य कषाय का क्षय या उसकी मन्दता है। लेखक ने पाठकों में लक्ष्य के अनुरूप संकल्प जगाने का प्रयास किया है।

-सम्पादक

'प्रतिक्रमण' शब्द का अर्थ तथा भाव बड़ा गम्भीर एवं सारगर्भित है। इसका दूसरा नाम 'आवश्यक सूत्र' है। अर्थात् प्रत्येक साधक के लिये सुबह एवं शाम अवश्य करणीय है, परन्तु आज के युग में यह प्रायः मात्र औपचारिक तौर पर ही किया जाता है। अन्यथा जैसा इसका अर्थ और भाव है उस प्रकार से पापों का और दोषों का निरीक्षण-परीक्षण करके उन दोषों की बार-बार पुनरावृत्ति को रोकने के लिये दृढ़ संकल्प किया जाये तो जीवन अवश्य विषमता से समता की ओर अग्रसर हो सकता है।

'प्रतिक्रमण' शब्द अतिक्रमण का विलोम शब्द है। अतिक्रमण का अर्थ होता है मर्यादा या सीमा से बाहर चले जाना। इसके विपरीत प्रतिक्रमण का अर्थ होता है अगर मर्यादा या सीमा के बाहर चला गया तो पुनः मर्यादा या सीमा में आ जाना।

प्रतिक्रमण के अर्थ और भाव को समझने के लिए पहले अतिक्रमण के अर्थ एवं भाव को समझना आवश्यक है।

अतिक्रमण क्या है और कैसे होता है ?

प्रत्येक आत्मा का स्वभाव हर समय परम सुख एवं पूर्ण शांति में रहने का है। परम सुख (अव्याबाध सुख) और पूर्ण शान्ति के साधन रूप पूर्ण समभाव में रहना अर्थात् राग, द्वेष और मोह रहित वीतराग भाव में रहना आत्मा का असली और निज स्वभाव है। जब तक आत्मा वीतराग भाव अथवा पूर्ण समभाव में रहती है तब तक वह पूर्ण शान्ति और आनन्द में रहती है।

जब तक कोई भी आत्मा राग, द्वेष एवं मोह का पूर्ण नाश नहीं करती तब तक वह पूर्ण सुखी भी नहीं हो सकती। जैसा कि शास्त्रकारों ने कहा है- ''दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो''-उत्तराध्ययन ३२.८। इस मोह के दो रूप होते हैं- राग एवं द्वेष। ये राग एवं द्वेष सभी प्रकार के दुःखों के कारण रूप कर्म के बीज या मूल हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

''रागो य दोसो य बिय कम्मबीयं'' -उत्तराध्ययन सूत्र ३२.७

राग एवं द्वेष दोनों न करना ही समभाव है। प्रत्येक आत्मा का स्वभाव ही पूर्ण समभाव या समता में रहना है। राग अथवा द्वेष करना विषम भाव है और विषम भाव में जाना या रहना यही समता का अतिक्रमण है। व्यक्ति जब तक पूरा वीतराग नहीं बन जाता तब तक वह निरन्तर कभी राग एवं कभी द्वेष करता ही रहता है।

राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया व लोभ इन सबको अठारह पापों में गिना जाता है। पापों में कुछ पाप जैसे मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन आदि का त्याग करने पर वे पाप नहीं भी किये जायें ऐसा हो सकता है, परन्तु क्रोध, मान, माया, लोभ, राग एवं द्वेष आदि ऐसे पाप हैं जिनके करने का त्याग करने पर भी उनका होना रुक नहीं सकता। उदाहरण के तौर पर प्रत्येक साधु दीक्षा लेते समय अठारह ही पापों का तीन करण तीन योग से त्याग तो करता है, परन्तु साधु जब तक वीतराग नहीं बनता तब तक यानी दसवें गुणस्थान तक तो पाप के होने को रोका नहीं जा सकता। शास्त्रकारों ने वीतराग होने के बाद पाप का लगना नहीं माना। कारण कि पाप कषाय के बिना होता नहीं। जब तक कषाय का सद्भाव या उदय है तब तक पाप से कोई भी जीव बच नहीं सकता। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो कषाय का पूरा प्रतिक्रमण तो वीतराग अवस्था में ही हो सकता है।

अतिक्रमण करना व होना- जिस प्रकार पाप का करना और पाप का होना- दोनों में भिन्नता है उसी प्रकार अतिक्रमण करना और होना भी भिन्न है। परन्तु जब तक करना होने में बदल नहीं जाता तब तक प्रयास करते रहना भी परम आवश्यक है। साथ में यह भी आवश्यक है कि साधन और साध्य के स्वरूप को अच्छी तरह समझने का प्रयास किया जाए। ज्ञान और क्रिया जो वीतरागता के साधन हैं आज हमने उन्हीं साधनों को साध्य मान लिया है। ज्ञान सीख कर एवं अनेक प्रकार की धार्मिक क्रियाएँ करके यह समझ लिया जाता है कि हमने धर्म कर लिया, परन्तु वीतरागता की ओर कितना कदम बढ़े प्रायः यह नहीं देखा जाता। परन्तु शास्त्रकार कहते हैं कि पूर्वो तक का ज्ञान और मन, वचन व काया से शुद्ध साधुत्व की पालना अनन्त बार कर लेने पर भी अगर कषाय कम नहीं हुए तो जीव मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। यह आवश्यक नहीं कि मात्र शास्त्रों का ज्ञान सीखने अथवा अमुक-अमुक त्याग कर लेने पर कषाय अथवा राग-द्वेष कम पड़ ही जाय। क्योंकि जैसा प्रायः देखा जाता है कि ज्ञान और क्रिया करते हुए भी अहं आदि कषाय बढ़ भी जाते हैं। आज ज्ञान और क्रिया का इतना प्रचार-प्रसार होने पर भी साम्प्रदायिक द्वेष, निन्दा, ईर्ष्या, असहिष्णुता आदि घटने के बजाय बढ़ रहे हैं। साधु-साध्वियों के लिये तो प्रतिक्रमण प्रातः एवं सायं अवश्यकरणीय माना गया है, परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है कि आज का प्रतिक्रमण मात्र औपचारिकता रह गयी है। इस प्रतिक्रमण सूत्र के छः आवश्यक माने गये हैं यथा १. सामायिक, २. चउवीसत्थव, ३. वन्दना, ४. प्रतिक्रमण, ५. कायोत्सर्ग तथा ६. प्रत्याख्यान।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिक्रमण के पाठों में व विधि में अलग-अलग सम्प्रदायों व फिरकों में काफी मतभेद है। मात्र स्थानकवासी परम्परा में भी पाठों व विधि के बारे में एकरूपता नहीं है।

वैसे प्रतिक्रमण दो तरह से पाँच-पाँच प्रकार का माना जाता है। प्रथम काल की अपेक्षा- १. देवसिय २. राइय ३. पाक्षिक ४. चातुर्मासिक एवं ५. सांवत्सरिक। दूसरे रूप में आस्रव की अपेक्षा से- १. मिथ्यात्व का २. अव्रत का, ३. प्रमाद का ४. कषाय का तथा ५. अशुभ योग का।

कषाय एवं उसका प्रतिक्रमण

कर्म-बन्ध अथवा आस्रव के मुख्य दो भेद माने गये हैं - प्रथम कषाय दूसरा योग। मिथ्यात्व, अव्रत तथा प्रमाद इन तीनों का समावेश कषाय में हो जाता है। कषाय के चार रूप या भेद माने गये हैं, यथा- १. अनन्तानुबन्धी, २. अप्रत्याख्यानी, ३. प्रत्याख्यानावरण व ४. संज्वलन। मिथ्यात्व अवस्था अथवा मिथ्यात्व गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय नियम से माना गया है। अव्रती सम्यग्दृष्टि अवस्था में अप्रत्याख्यानी का, देशव्रती अवस्था में प्रत्याख्यानावरण का व प्रमादी-अप्रमादी गुणस्थान में संज्वलन कषाय का उदय माना गया है। वीतरागता से पूर्व तक अर्थात् दसवें गुणस्थान तक नियम से कषाय का उदय मान्य है।

अनन्तानुबन्धी आदि चारों प्रकार के कषाय में से किसी में भी रहना समभाव का अतिक्रमण है। जब तक अतिक्रमण चालू रहता है तब तक प्रतिक्रमण भी आवश्यक है, क्योंकि साधना का मूल उद्देश्य ही पूर्ण समभाव अर्थात् वीतरागता है। वीतरागियों के समभाव का अतिक्रमण नहीं होता है तो वहाँ प्रतिक्रमण की भी आवश्यकता नहीं रहती है। वीतरागता के अभाव में जब तक जीव सकषायी रहता है तब तक वह निश्चित ही समभाव अथवा समता का अतिक्रमण करता ही है। इसलिए कषाय का पूर्ण प्रतिक्रमण तो वीतरागता में ही संभव है परन्तु जब तक पूर्ण वीतरागता प्रकट नहीं होती तब तक बार-बार प्रतिक्रमण करते रहना भी परम आवश्यक है। प्रतिक्रमण करते हुए वीतरागता का लक्ष्य बराबर बना रहना चाहिये। तभी प्रतिक्रमण सच्चा या वास्तविक कहा जा सकता है। मात्र पाठों का उच्चारण कर लेने से सच्चा या वास्तविक प्रतिक्रमण नहीं कहा जा सकता है।

जैन धर्म में तो सारी साधना का मूल उद्देश्य ही वीतरागता, पूर्ण समभाव एवं समता ही है। क्योंकि सच्चा एवं वास्तविक सुख चारों कषायों अथवा राग-द्वेष और एक शब्द में कहा जाये तो मोह के क्षय के बिना हो नहीं सकता। मोह एवं कषायों की जितनी-जितनी कमी होती है, उतनी-उतनी ही शान्ति भी निश्चित बढ़ती है। जैसे भोजन करें और भूख न मिटे तथा पानी पीयें और प्यास न बुझे यह कभी संभव नहीं हो सकता, इसी प्रकार कषायों की कमी का फल भी तत्काल शान्ति का मिलना है। आज की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि धर्म करते हुए भी जीवन में शान्ति प्रायः नहीं बढ़ रही है। इसका एक कारण यह भी है कि धर्म का फल प्रायः परलोक से जोड़ दिया जाता है, परन्तु सच्चाई यह है कि पुण्य कर्म का फल भले ही परलोक में मिले, किन्तु धर्म का फल तो तत्काल ही मिलता है। धर्म से कोई बन्ध नहीं होता जिसका फल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालान्तर में या परलोक में मिले। हाँ, धर्म के साथ में पुण्य कर्म का बन्ध अवश्य होता है, जिसका फल कालान्तर या परलोक में भी मिलता है।

जिस प्रकार अनाज के साथ खाखला अर्थात् घास-फूस भी अवश्य उत्पन्न होता है उसी प्रकार धर्म कषायों की कमी या नाश होने को कहते हैं और कषायों की कमी के साथ जो मन, वचन, काया रूप योगों की शुभता होती है उससे पुण्य कर्म का भी बन्ध होता ही है। परन्तु पुण्य कर्म को धर्म मानना भी बड़ी भारी भूल है। शास्त्रकारों ने जब तक मिथ्यात्व है तब तक धर्म नहीं माना। कारण वहाँ पर अनन्तानुबन्धी आदि सभी कषायों का उदय एवं सद्भाव रहता है। मात्र योगों की शुभता जरूर मानी है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य या देवलोक अथवा भौतिक सुख जो पुण्य के फल रूप मिलता है, वह प्राप्त हो सकता है।

धर्म का प्रारम्भ ही सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता और सम्यग् दर्शन में अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय या उपशम होना अनिवार्य माना गया है। सम्यग्दर्शन के अभाव में जो भी क्रिया धर्म क्रिया के नाम पर की जाती है वह धर्म न होकर मात्र पुण्य बन्ध का कारण बनती है। सम्यग्दर्शन के अभाव में मिथ्यात्व का ही प्रतिक्रमण नहीं होता तो अव्रत, प्रमाद और कषाय के सच्चे प्रतिक्रमण की तो बात ही कैसे की जा सकती है। फिर भी पाप से पुण्य अच्छा ही होता है इसलिये सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि अनुष्ठान के रूप में प्रतिक्रमण करना अच्छा ही है, परन्तु लक्ष्य कषायों की कमी का रखना आवश्यक है।

कषायों के स्वरूप को विस्तार से समझे बिना और जीवन में उनकी कमी या नाश हुए बिना वास्तविक शान्ति एवं सच्चा सुख मिलना संभव नहीं। जिन महापुरुषों ने कषाय का प्रतिक्रमण वास्तविक रूप में करके राग-द्वेष को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया है उन महापुरुषों के आदर्श अर्थात् वीतरागी, जिन या सर्वज्ञ केवलियों की राह पर चलकर समता के अतिक्रमण रूप राग, द्वेष एवं कषायों को निरन्तर कम करने का प्रयास करना प्रत्येक साधक का कर्तव्य है।

जिस प्रकार कषाय का प्रतिक्रमण वीतरागता धारण करने पर होता है उसी प्रकार मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण सम्यक्त्व धारण करने पर, अव्रत का प्रतिक्रमण व्रत-प्रत्याख्यान धारण करने पर, प्रमाद का प्रतिक्रमण अप्रमत्त रहने पर तथा अशुभ योग का प्रतिक्रमण शुभ योग में प्रवृत्ति करने पर होता है। जब हम इन सभी प्रतिक्रमणों के अर्थ को भली प्रकार समझ कर अतिक्रमणों से बचेंगे तभी हम सही रूप में प्रतिक्रमण के सच्चे अधिकारी बन कर वीतरागता को प्रकट कर सच्चे एवं शाश्वत सुख के अधिकारी बनेंगे।

-संगीता साडीज,, डाजा बाजार, जोधपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org